

लेख

शिक्षा परिदृश्य

डॉ. तैयब हुसैन

डॉ. तैयब हुसैन का यह लेख शिक्षा व्यवस्था के आधुनिक समय के इतिहास की लघु पड़ताल करता है। वे बताते हैं कि भले ही शिक्षा की संकल्पना के तौर पर बड़ी-बड़ी बातें की जाती रही हों लेकिन आधुनिक शिक्षा का इतिहास यह बताता है कि शिक्षा राजनैतिक एजेण्डे के तहत दी जा रही है। फिर चाहे अंग्रेजी काल की शिक्षा हो या आजादी के समय के बाद स्वतंत्र भारत में दी जा रही शिक्षा हो। जब तक शिक्षा में बदलाव के लिए राजनैतिक संकल्प नहीं होगा तब तक शिक्षा व्यवस्था से सुधार की संभावना नहीं देखी जा सकती।

शिक्षा की सामाजिक और सांस्कृतिक महत्ता को सभी सभ्यता और संस्कृतियों ने अपने-अपने तरीके से स्वीकारा है। भारतीय संस्कृति में भी प्राचीन काल से ही शिक्षा को लेकर मनीषियों ने अपने-अपने विचार दिए हैं। भारतीय संदर्भ में शिक्षा से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे विद्या कहा गया है। विद्या, प्रज्ञता और ज्ञान को लगभग एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। विद्या के धन को सब धनों में प्रधान और श्रेष्ठ माना गया है। महाभारत में जब यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा कि 'यात्रा में सहायक कौन है ?' तो युधिष्ठिर का उत्तर था 'विद्या'। इतना ही नहीं प्राचीन भारतीय संस्कृति में शिक्षा को लेकर और भी बातें कही जाती रही हैं। यथा, 'सा विद्या या विमुक्तये' (विद्या वही है जो मुक्ति दे), 'विद्या विहिनः पशु' (बिना विद्या के मनुष्य पशु के समान है), 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' (मुझे अंधकार से प्रकाश में ले चलो)। आजाद भारत के स्वप्न दृष्टा चिन्तकों ने भी शिक्षा पर अपने महत्वपूर्ण विचार दिए हैं। 'शिक्षा बच्चों के मस्तिष्क पर दस्तक देने का काम करती है ताकि उसकी समझ के कपाट खुल जाएं' (टैगोर), 'शिक्षा वह है जिससे आदमी का सर्वांगीण विकास हो' (गांधी), 'शिक्षा से आदमी में गलत-सही की पहचान का विवेक पैदा होता है' (राहुल सांकृत्यायन) आदि। विचारकों ने सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में शिक्षा की भूमिका और महत्ता को पहचानते हुए अपने विचार दिए हैं। शिक्षा ही वह मूल उत्स है जहां से परिवर्तन के रास्ते खुलते हैं। इसीलिए शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का जरिया भी कहा जाता है।

लेखक परिचय :

साहित्य के प्राध्यापक। शिक्षा में गहरी दिलचस्पी।

सम्पर्क :

न्यू अजीमाबाद कॉलोनी,

पोस्ट-महेन्द्र, पटना - 800006

इसके इतर पाश्चात्य देशों में भी शिक्षा के उद्देश्यों को लेकर इसी तरह की बातें कही जाती रही हैं। 'अशिक्षित रहने से पैदा न होना अच्छा है, क्योंकि अज्ञानता ही सभी क्लेशों व विपत्तियों का मूल है', ऐसा प्लेटो ने कहा था। लेकिन इन सबसे अलग ब्राजील में जन्मे इस सदी का महान शिक्षाशास्त्री पाउलो फ्रैरे, जिन्होंने प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में काफी काम किया है, ने वृहत्तर सामाजिक परिवर्तन की भूमिका के रूप में शिक्षा को चिन्हित किया था और शिक्षा से स्वतंत्र और पूर्णतर मनुष्य बनने की बात कही है। फ्रैरे शिक्षा के मौजूदा स्वरूप में शिक्षार्थी के मन में सूचनाओं के ठूंसे जाने के सर्वथा खिलाफ थे। उनके अनुसार, "शिक्षा की यह बैंकिंग अवधारणा न केवल इस मायने में बाल मन के लिए हानिकारक है कि वह

बच्चों में आलोचनात्मक चिन्तन की प्रक्रिया को बाधित करती है बल्कि सामाजिक तौर पर इस मायने में घातक है कि वह एक ऐसी पीढ़ी को जन्म देती है जो सब कुछ चुपचाप स्वीकार कर लेती है।” जाहिर तौर पर ऐसी शिक्षा पाए बच्चे न स्वतंत्र नागरिक बन सकते हैं न अपने देश और समाज के विकास में कोई उल्लेखनीय योगदान ही कर सकते हैं। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि हर सभ्यता और संस्कृति में शिक्षा को एक खास दर्जा दिया गया है और शिक्षा को व्यक्ति और समाज के विकास में अपरिहार्य माना गया है। सभी दार्शनिक समाज के विकास एवं गति के लिए शिक्षा को अनिवार्य मानते हैं।

लेकिन यह भी सही है कि हर सभ्यता और संस्कृति में शिक्षा ही नहीं बाकि अनुशासन भी तात्कालिक समाज की जरूरतों और दबावों से रूपाकार ग्रहण करते हैं। भारत की वर्तमान शिक्षा प्रणाली ने कैसे अपना स्वरूप ग्रहण किया और इसके विकास और इस विकास में रहे दबावों को समझने की कोशिश करते हैं। यह आमतौर पर कहा जाता है कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद की साजिश के तहत ही भारत की व्यापक जनता को अशिक्षित रखने का प्रयत्न किया गया था। चूंकि यह बात अंग्रेजी राज के हित में थी, इसलिए शिक्षा का प्रचार-प्रसार न करना उसने आवश्यक समझा (हालांकि सबके लिए शिक्षा का दरवाजा इस वर्ण व्यवस्था वाले भारत में उसके आने के बाद ही खुला)। कई अंग्रेजी शासकों ने शिक्षा को गंभीरता से लिया था। इनमें भी दोनों तरह के शासक थे जो शिक्षा की उस भूमिका को पहचानते थे जिससे कि परिवर्तन के रास्ते खुलते हैं। मेजर जनरल एस. किन्से ने इसी को लक्ष्य कर लिखा था कि - “शिक्षा का परिणाम यह होगा कि वे सब साम्प्रदायिक और धार्मिक पक्षपात, जिसके द्वारा हमने अब तक इस मुल्क को वश में रखा है और हिन्दू और मुस्लिम दोनों को लड़ाए रखा है इत्यादि दूर हो जाएंगे और उन्हें अपनी शक्ति का पता लग जाएगा।” (“भारत में अंग्रेजी राज’ : दूसरा खण्ड : पृष्ठ -1124 : डॉ. आर. सी. मजुमदार) अंग्रेजी राज्य का प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जार्ज मैकाले का इससे थोड़ा भिन्न मत था बल्कि उसने तो भारत में शिक्षा का उद्देश्य ही अंग्रेजी राज्य के सुचारू संचालन का माध्यम मान रखा था। यही नहीं, उसने अपने आका को भारत में अंग्रेजी शिक्षा नीति की जो रिपोर्ट सौंपी थी, उसमें आह्लादिन होकर यह कहना नहीं भूला था कि भारत में चाहे अंग्रेज रहें या नहीं लेकिन उनकी अंग्रेजीयत उनके जाने के बाद भी जिन्दा रहेगी। कहना नहीं होगा कि मैकाले की यह भविष्य वाणी सच निकली है और आजादी के इन साठ वर्षों के बाद भी शिक्षा लगभग इन्हीं उद्देश्यों को लेकर काम कर रही है और हम अभी तक भी इसमें कोई खास आमूल परिवर्तन नहीं कर पाए हैं।

भारत के संविधान में भले शिक्षा को समस्त नागरिकों का

मौलिक अधिकार मान लिया गया है और संविधान के नीति निर्देशक सिद्धान्तों वाले 45 वे अनुच्छेद में सभी राज्यों से यह कहा गया है कि वे “चौदह वर्ष की उम्र तक के सभी बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा दें- और यह काम 1960 तक हो जाना चाहिए।” (अनिल सद्गोपाल-शिक्षा विमर्श, सितम्बर-अक्टूबर, 2006)

लेकिन ऐसा करना तो दूर, उल्टे विभिन्न आयोगों का गठन कर उसकी रपटें ठंडे बस्ते में डालने का ही काम हुआ और अब तो वैश्वीकरण के प्रभाव में शिक्षा के साथ बड़े पैमाने पर साजिश भी जारी है। आइए, इस बदलाव पर दृष्टिपात करें।

हमारे केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय का नाम 1985 के उत्तरार्द्ध में परिवर्तित किया गया और उसे नया नाम दिया गया -‘मानव संसाधन विकास मंत्रालय’। उस समय राजीव गांधी प्रधानमंत्री थे और नई उद्योग नीति, नई आर्थिक नीति की तर्ज पर शिक्षा के साथ भी ‘नई’ विशेषण जोड़ उसे ‘नई शिक्षा नीति’ कहा गया। जाहिर है, यह नया मंत्रालय अपने नाम के अनुकूल इंसान को संसाधन समझने की बात करेगा न कि शिक्षित करने की !

और पीछे जाएं तो इंसान को संसाधन के रूप में देखने की बात विधिवत रूप से 1960 के दशक में शुरू हुई, जब पश्चिम में एक सिद्धान्त (थियरी) ही बनाया गया, मानव को पूंजी के रूप में देखने का। उससे पहले तक ‘संसाधन’ शब्द का उपयोग प्राकृतिक संपदा और उद्योगों से बनने वाली नई संपदा के लिए होता था। ‘मानवपूंजी’ का सिद्धान्त यह है कि मानव स्वयं एक पूंजी है, स्वयं एक संसाधन है। मैकाले मुझे फिर याद आ रहे हैं जिसने कहा था कि - “हम ऐसी शिक्षा देना चाहते हैं, जो एक भारतीय को ईस्ट इंडिया कंपनी का कारोबार बढ़ाने में मददगार बना दे।” बहरहाल, मानव पूंजी की थियरी से ही ‘रेट ऑफ रिटर्न’ का सिद्धान्त निकला, जो अब विश्व बैंक द्वारा बहुत इस्तेमाल किया जाता है।

विकास को हम बहुत समय तक आर्थिक विकास ही समझते रहे, इसलिए मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होने वाली या की जा सकने वाली उन्नति को भी हम आर्थिक पैमानों से मापते रहे हैं। यहां तक कि हमने मनुष्य को भी एक पूंजी (ह्यूमन कैपिटल) या पूंजी बढ़ाने वाला संसाधन (ह्यूमन रिसोर्स) मान लिया और शिक्षा को ‘मानव संसाधन विकास’ की संज्ञा दे डाली। मगर 1990 के आस-पास अमर्त्य सेन और ज्यॉ ड्रेज आदि के कामों से यह बात सामने आई कि जीवन की गुणवत्ता के तीन मुख्य मापदंड होंगे - शिक्षा, स्वास्थ्य, और आय।

असल में, विकास की जो अवधारणा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद बनी थी, पिछले कुछ समय से उस पर प्रश्न चिन्ह लगने लगे थे और इसकी कुछ ऐसी भारी कमियां सामने आई कि विकास को

केवल आर्थिक विकास के रूप में न देखकर मानवीय, शैक्षिक, सांस्कृतिक और नैतिक परिप्रेक्ष्य में देखना आवश्यक हो गया जो कि 1965 के आसपास तक शिक्षा को पूंजी मानकर और उससे आर्थिक लाभ हेतु उसमें निवेश किया जाने लगा था।

आज की दुनिया में शिक्षा अल्प विकसित देशों का अपना मामला नहीं रह गई है। इन देशों की सरकारें अपने लोगों की जरूरतों के मुताबिक अपने ढंग से अपने ढंग की शिक्षा नीतियां और योजनाएं बनाने को स्वतंत्र नहीं रह गई हैं। 1963 में यूनेस्को ने 'इंटरनेशनल नियोजन के अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान' की स्थापना स्पष्ट रूप से आर्थिक उद्देश्यों के लिए की थी। संस्थान का उद्देश्य शिक्षा का नए ढंग का नियोजन करना था, जिससे शैक्षिक व्यवस्थाओं की ऐसी संतुलित आंतरिक संवृद्धि हो सके कि वे अर्थ व्यवस्था की जरूरतों से सामंजस्य बिठाए रख सकें।

अकारण नहीं है कि ये संस्थान यूनेस्को तथा विश्व बैंक की 'विकासशील देशों' में शैक्षिक विकास एवं नियोजन' की रणनीतियों के पीछे की मुख्य चालक शक्ति बन गया। तीसरी दुनिया से देशों की शैक्षिक नीतियां और योजनाएं उन देशों के बाहर बनाई जाने लगीं और उन्हें दिए जाने वाले कर्जों के अलावे 'सहायतओं' के साथ ऐसी शर्तें उन पर थोपी जाने लगीं कि वे उन नीतियों का पालन करें और उन योजनाओं पर अमल करें। सरकारी स्कूलों की दुर्दशा और निजी शैक्षिक संस्थाओं का कुकुरमुते की तरह उगना और बढ़ते जाना उन्हीं नीतियों और योजनाओं के दुष्परिणाम है।

पूर्व में स्वतंत्र भारत में शिक्षा पर विभिन्न आयोगों के गठन और उनकी रपटों की बात कही गई है। कोठारी आयोग (1966) द्वारा अनुशासित और 1986 की शिक्षा नीति में शामिल 'समान स्कूल प्रणाली' के अनुसार 'हर बच्चे को, चाहे वह किसी भी वर्ग, जाति, लिंग, धर्म अथवा भाषा के हों, उसे अपने पड़ोस के स्कूल में पढ़ना होगा', और यह शिक्षा के निजीकरण की ताकतों को मंजूर नहीं हुआ। अतः बहु-परती शिक्षा की नीति अपनाई गई। गैर बराबरी एवं सामाजिक विषमता को आगे बढ़ाने वाली विश्व बैंक की दृष्टि को आधार बनाकर 10 वीं पंचवर्षीय योजना में सर्व शिक्षा अभियान शुरू किया गया। कोई भी नीति जो बहु-परती शिक्षा को आगे बढ़ाती है वह कभी भी गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देने में सफल नहीं हो सकती और बगैर गुणवत्ता की शिक्षा कभी भी जनता को संतुष्ट नहीं कर सकती। सर्व शिक्षा अभियान की असफलता का यही कारण है।

इतना ही नहीं, संविधान द्वारा प्रदत्त शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा जब 1993 में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक फैसले में और यह कहते हुए पुखा किया कि 'संविधान के अनुच्छेद

45 को जीवन के मौलिक अधिकार वाले अनुच्छेद 21 से मिलाकर पढ़ना चाहिए, क्योंकि शिक्षा के बिना जीवन का मौलिक अधिकार नहीं मिल सकता।' तो शासक वर्ग घबरा गया। अतः उसने संविधान में 86 वां संशोधन करके संविधान में दिए गए अधिकारों भी सीमित कर दिया। इस संशोधन में यह कहा गया है कि शिक्षा पाने का अधिकार 6 से 14 वर्ष तक उम्र के बच्चों का होगा। यानी 6 साल के नीचे की आयु समूह वाले बच्चों का अधिकार छीन लिया गया जिसके लिए अब मोन्टेशरी कान्वेंट आदि नाम से निजी स्कूल गली-गली में दुकान की तरह खुलकर फैल चुकी हैं।

दिसम्बर 2002 में जब यह 86 वां संशोधन हुआ, तब भारत में 6 साल से कम उम्र वाले बच्चों की संख्या 17 करोड़ थी जो आस्ट्रेलिया की जनसंख्या से भी ज्यादा है। इसका मतलब यही है कि सरकार इतने बड़ी आबादी के लिए विकास के समुचित साधन उपलब्ध नहीं करवाना चाहती। इसी संशोधन के एक उप-अनुच्छेद 51 ए, जिसे अंग्रेजी में 'के' अक्षर के रूप में पढ़ा जाता है, इसके अनुसार इस आयु समूह के बच्चों के अभिभावक का मौलिक कर्तव्य होगा कि वे अपने बच्चों को शिक्षा के अवसर दें। यानी अगर राज्य ने अवसर नहीं दिया तो स्वयं दें।

मुदालियर आयोग की रिपोर्ट में तो कहा गया था कि माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य एक लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष, समतामूलक भारत के लिए नागरिक का निर्माण करना है। यह आजादी के बाद का एक सपना था जिसे भारत में देखा जा रहा था लेकिन योजना आयोग ने ग्यारहवीं योजना के अपने दृष्टि पत्र में स्पष्ट कह दिया है कि माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय बाजार के लिए कुशल मजदूर पैदा करना है। राज्य की इसी मंशा को भांपते हुए तोल्स्तोय ने कहा था कि, "शिक्षा जनता को जगाती है और कोई निरंकुश राजा अपने होशो-हवास में यह काम नहीं करना चाहेगा।"

बाजारवाद तो अपनी प्रकृति के अनुरूप पहले हमें लकवाग्रस्त बनाएगा फिर हमें बैसाखियां बेचेगा। ऐसे ही नहीं सम्प्रति उच्चतर (हायर) शिक्षा और तकनीकी (टेकनिकल) शिक्षा प्रकारान्तर से निजी हाथों में दे दिए गए हैं। देशी और विदेशी पूंजीपति शिक्षा को भी माल समझ कर बेच रहे हैं। कुछ बहुराष्ट्रीय कम्पनियां अपने काम के लिए उपयुक्त टेकनीशियन तैयार करने में लगी है। डोनेशन के नाम पर भारी फीस वसूली जा रही है। कुल मिलाकर ऐसी व्यवस्था की जा रही है कि शिक्षा की ऊंची डिग्रियां वही पा सकेगा जिसके पास पैसे होंगे। ऐसे में क्या अर्थ रह जाता है हमारे समाज में प्रतिभा, मेधा और आरक्षण का ? वस्तुतः शिक्षा विभाग में भी अब खाने के दांत और हैं, दिखाने के और।

इतने बड़े षड़यंत्र के बाद बुद्धिजीवियों और शिक्षाकर्मियों का

चुप बैठना कुछ अचरज का विषय है। यह साजिश सभी को समझ में आ रही है तो फिर इस मोर्चे पर वामपंथियों का चुप बैठना शुभ लक्षण प्रतीत नहीं होता। शिक्षा किसी भी देश के लिए रीढ़ की हड्डी के समान महत्वपूर्ण होती है। इस रीढ़ की हड्डी के टूटने के बाद आखिर बचेगा क्या ? यह ऐसी धुंध भरी स्थिति है जिसमें आज के समय में ऐसा लगता है कि किसी को भी दूर तक की चीजें नहीं दिख रही हैं। यह भी लगता है कि धीरे-धीरे ही सही बुद्धिजीवी भी घुटने टेकते नजर आ रहे हैं।

पानी तो सिर से ऊपर बह रहा है, तब भी 'समान स्कूल प्रणाली' के रूप में डूबते को तिनके का सहारा सा हमारी आंखों के सामने है। समान स्कूल प्रणाली पर कोठारी कमीशन के सुझावों के बाद किसी भी सरकार ने किसी भी तरह के कदम आगे नहीं बढ़ाए हैं। लेकिन बिहार सरकार ने इस दिशा में एक आयोग का गठन कर कुछ आशा जरूर जगाई है। यह आयोग समान स्कूल प्रणाली को बिहार प्रदेश में लागू करने के लिए सुझाव देने के लिए बनाया गया है। इस आयोग ने अप्रैल 2008 से इसे लागू करने का प्रस्ताव दिया है। इसके कई पहलू हैं, कुछ सामाजिक तो कुछ राजनीतिक। लेकिन इतना तय है कि यदि समान स्कूल की व्यवस्था जमीन पर उतरी तो शिक्षा का चेहरा बदला जा सकता है। यद्यपि समान स्कूल प्रणाली में कहीं भी इस बात का जिक्र नहीं है कि प्राइवेट स्कूलों को बंद कर दिया जाएगा। समान स्कूल प्रणाली शायद इस प्रत्याशा पर टिका है कि यदि राजकीय विद्यालय बेहतर चलेंगे तो स्वतः ही प्राइवेट स्कूलों का प्रभाव क्षेत्र धीरे-धीरे कम हो जाएगा। वैसे भी समान स्कूल प्रणाली पर गठित आयोग ने निजी विद्यालयों को इसके दायरे में लेने का प्रस्ताव दिया गया है। लेकिन विभिन्न तरह के 'आदर्श स्कूल' यदि वजूद में रहें तब भी समान स्कूल की परिकल्पना बेकार रहेगी। आयोग ने बस इतना कहा है कि वर्ग-2 तक नहीं बल्कि वर्ग 3 से 8 तक अंग्रेजी विषय की पढ़ाई होगी। लेकिन पढ़ाई का माध्यम हिन्दी ही रहेगा। कक्षा - 10 तक छात्र-छात्राओं की सिर्फ ए.बी.सी. की ग्रेडिंग की जाएगी। इसके बाद 11 वीं और 12 वीं में परीक्षा होगी और इसमें हिन्दी व अंग्रेजी विषयों को पास करना अनिवार्य होगा। बुनियादी स्कूलों को भी इसके दायरे में लेने की सिफारिश की गई है। राज्य सरकार फिलहाल शिक्षा-मद में 13 प्रतिशत खर्च कर रही है। आयोग की अनुशंसाओं को लागू करने के लिए पहले वर्ष में सरकार को 30 प्रतिशत राशि खर्च करनी होगी। जो भी हो, इतना भी लागू करना और करवाना क्रमशः सरकार और जनता दोनों की जिम्मेदारी होगी। सही दिशा में सार्थक काम करने वाले प्रगतिशील राजनीतिज्ञों में राजनीतिक इच्छा शक्ति की जरूरत पड़ेगी। समान स्कूल आयोग की सिफारिशों को सरकार को सौंपे हुए एक वर्ष होने को है लेकिन अभी तक सरकार की ओर

से इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया है। शिक्षा जगत में जिस आशा का संचार इस आयोग के गठन के बाद हुआ उसकी स्थिति अभी तक साफ नहीं है। यदि बिहार सरकार इस दिशा में कदम उठाती है तो निश्चित ही यह पहला और अनोखा प्रयोग होगा। हालांकि इस आयोग की सिफारिशों के चलते ही निजी स्कूलों के हलके में बैचेनी होना आरंभ हो गया था। उन्होंने भी अपनी लॉबी बनाना शुरू कर दिया था। यदि बिहार सरकार इस दिशा में काम करना चाहती है तो अपने वायदे और दृढ़ राजनीतिक संकल्प का परिचय देना होगा और तभी जाकर इस दिशा में ठोस कदम उठा पाना संभव होगा।

का. लेनिन ने कहा था - "जब तक हमारे देश में निरक्षरता जैसी चीज मौजूद है, तब तक राजनीतिक शिक्षा की बात बेमानी है, क्योंकि निरक्षर व्यक्ति राजनीति से बाहर ही रहता है। सबसे पहले उसे क ख ग सीखना चाहिए। इसके बिना कोई राजनीति नहीं हो सकती। सिर्फ अफवाहें हो सकती हैं, पूर्वग्रह हो सकते हैं, गपशप हो सकती है, परियों की कहानियां हो सकती हैं, राजनीति नहीं हो सकती।" (कथन : नई दिल्ली : जनवरी - मार्च 2007 अंक)।

पाब्लो रिचर्ड का सहारा लें तो - "पूँजीवाद बहुत से लोगों की कीमत पर थोड़े से लोगों की जान बचाना चाहता है। अंततः यह जीवन के बदले मृत्यु को चुनना है इसका एक ही विकल्प है : सभी के लिए जीवन। यदि हम इस विकल्प को अपनाने में असफल रहते हैं, तो यह बहुत से लोगों की मृत्यु को स्वीकारने जैसा होगा, जिसकी परिणति अन्ततः सभी की मृत्यु होगी।"

प्रजातांत्रिक देशों में यह और बड़ी चुनौती के रूप में सामने आता है। क्योंकि अपने-अपने फायदों के लिए हर क्षेत्र में बहुत सी लॉबी काम करती हैं। ये लॉबी किसी भी कीमत पर अपने फायदे को नहीं छोड़ना चाहतीं। यही वजह है कि प्रजातांत्रिक सरकार के लिए राजनैतिक दृष्टि की स्पष्टता की आवश्यकता होती है और सबसे बड़ी जिम्मेदारी जनता की भी होती है कि वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत रहे और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करती रहे। इसी दबाव में राजनैतिक निर्णय और उनके क्रियान्वयन के दबावों को नीतिगत रूप दिया जा सकता है। जनता की जागरूकता से ही नीतियों को भी सही मायने में अमली जामा पहनाया जा सकता है। शायद लोकतंत्र इसी संघर्ष का नाम है। ♦